THE ECONOMIC TIMES

Date: 02-04-18

South should let 2011 population be

ET Editorials

Southern states are miffed over the mandate to the Fifteenth Finance Commission to use the population figures of 2011 instead of 1971 as a criterion while allocating among states their share of the taxes collected by the Centre. Their concern is that the shift penalises, instead of rewarding, the progress made by southern states in social development that has led to their populations stabilising rapidly, even as the populations of north Indian states continued to grow.The 14th Finance Commission had assigned a 10% weight to the 2011 population to capture migration. Reportedly, preliminary estimates show that southern states would have received about Rs 20,000 crore less, had the 14th Finance Commission exclusively used the 2011 population figures.

Kerala's finance minister Thomas Isaac wants alternate ways of compensation to southern states. He is right, subject to the norm that every citizen must have an equal right to resources of the central government, regardless of his place of residence, which has to be the starting point of any allocation of resources.It is difficult to sustain using the 1971 census figures that grossly under-represent the northern states, which are relatively underdeveloped as well.The equality consideration can be amended to accommodate underdevelopment, remote locations, poverty and special problems. To incentivise better performance, some weight can be given to positive achievements as well.Finance commissions have, in the past, given weightage to efforts made to raise own revenue. The Terms of Reference of the 15th commission identify progress made in population stabilisation as a factor in allocation of resources. This can offset, to some degree, the effect of using the 2011 census figures for population, the basic criterion.

नईदुनिया

Date: 02-04-18

एससी/ एसटी एक्ट, सही फैसले की गलत व्याख्या

संजय गुप्त (लेखक- दैनिक जागरण के प्रधान संपादक हैं)

दलितों के मान-सम्मान की रक्षा और उन पर होने वाले अत्याचार को रोकने के लिए तीन दशक पहले बनाए गए अनुसूचित **जाति**-जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम यानी एससी-एसटी एक्ट के **दुरुपयोग** की शिकायतें एक लंबे अर्से से सामने आ रही थीं। इस कानून के दुरुपयोग के शिकार महाराष्ट्र के एक अधिकारी की ओर से सुप्रीम कोर्ट में दायर की गई **याचिका** पर इस अदालत ने न केवल यह टिप्पणी की कि किसी भी जाति और धर्म के **निर्दोष** नागरिक को प्रताड़ित किया

जाना संविधान के खिलाफ है, बल्कि यह व्यवस्था भी दी कि इस कानून के तहत शिकायत मात्र पर न तो तत्काल एफआइआर दर्ज होगी और न ही गिरफ्तारी। सुप्रीम कोर्ट ने गिरफ्तारी के बाद जमानत का रास्ता भी खोला, क्योंकि इस कानून की धारा 18 अभियुक्त को अग्रिम जमानत दिए जाने पर भी रोक लगाती है। यह फैसला आते ही विपक्षी राजनीतिक दलों ने शोर-शराबा करना शुरू कर दिया। वे सुप्रीम कोर्ट के फैसले की व्याख्या इस रूप में करने लगे कि एससी-एसटी एक्ट को कमजोर करने का काम किया गया है। राजनीतिक होड़ के चलते सत्तापक्ष के अनेक सांसद भी ऐसा ही कहने लगे। इतना ही नहीं राहुल गांधी के नेतृत्व में विपक्षी सांसदों ने राष्ट्रपति के पास जाकर गुहार भी लगाई। इस सबका परिणाम यह हुआ कि केंद्र सरकार दबाव में आ गई। राजनीतिक नुकसान होने के भय से सरकार ने तय किया कि वह सुप्रीम कोर्ट के फैसले के खिलाफ पुनर्विचार याचिका दायर करेगी।

सभ्य समाज में जातिगत भेदभाव और विद्वेष के लिए कोई स्थान नहीं

यह कहना कठिन है कि पुनर्विचार याचिका में केंद्र सरकार क्या दलील देगी और सुप्रीम कोर्ट किस नतीजे पर पहुंचेगा, लेकिन यह तो कहा ही जा सकता है कि तीन दशक पहले एससी-एसटी एक्ट जिन परिस्थितियों में बनाया गया था उनमें काफी कुछ परिवर्तन आ चुका है। देश कई मायनों में आगे निकल चुका है और शहरों में लोग एक तो इसकी परवाह नहीं करते कि कौन दलित है और कौन नहीं और दूसरे, दलित भी अपनी पहचान छिपाने की जरूरत नहीं समझते। यह सही है कि दलितों को अभी भी यथोचित मान-सम्मान मिलना शेष है और ग्रामीण इलाकों में उन्हें प्रताड़ित करने के मामले सामने आते ही रहते हैं, लेकिन यह कहना सही नहीं होगा कि जैसे हालात अस्सी के दशक में थे वैसे ही आज हैं। हमारे समाज में दलितों को कमतर माने जाने की जो मानसिकता है उसका परित्याग किए जाने की आवश्यकता है, क्योंकि सभ्य समाज में जातिगत भेदभाव और विद्वेष के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। दलितों को समाज की मुख्यधारा में लाने के तहत छुआछूत को गैर कानूनी करार देने के साथ अनुसूचित जातियों और जनजातियों को आरक्षण भी प्रदान किया गया। इसके कई सकारात्मक परिणाम सामने आए, लेकिन कुछ नकारात्मक परिणाम भी देखने को मिले और उनमें से एक है एससी-एसटी एक्ट का दुरुपयोग। चूंकि इस अधिनियम के तहत उत्पीड़न की शिकायत एफआइआर के रूप में दर्ज किए जाने और आरोपित की तत्काल गिरफ्तारी का प्रावधान है इस कारण कई मामलों में यह देखने को मिलता है कि महज बदला लेने या किसी को सताने के इरादे से दलित उत्पीड़न की झूठी शिकायत दर्ज करा दी जाती है। 2016 में पुलिस जांच में अनुसूचित जाति के लोगों को प्रताड़ित किए जाने के 5347 मामले और अनुसूचित जनजाति के 912 मामले झूठे पाए गए। इस एक्ट के तहत किसी दलित के प्रति कुछ जाति सूचक शब्दों का इस्तेमाल भी उसका अपमान माना जाता है। यह ठीक है कि अदालत के समक्ष दलित उत्पीड़न की शिकायत झूठी पाए जाने पर आरोपित को राहत तो मिल जाती थी, लेकिन गिरफ्तार होने और जेल जाने के कारण उसे अपमान का भी सामना करना पड़ता है।

आखिर सुप्रीम कोर्ट के फैसले का विरोध क्यों

न्याय का तकाजा यह कहता है कि किसी की गिरफ्तारी तब होनी चाहिए जब उसके खिलाफ शिकायत प्रथमदृष्टया सही पाई जाए। यह समझना कठिन है कि अगर सुप्रीम कोर्ट ने यह व्यवस्था दी कि जांच के बाद ही गिरफ्तारी होगी तो इसे एससी-एसटी एक्ट को कमजोर करने वाला काम क्यों कहा जा रहा है? आखिर सुप्रीम कोर्ट के फैसले का विरोध करने वाले झूठी शिकायत में भी गिरफ्तारी के साथ जमानत न देने के प्रावधान को न्यायसंगत कैसे कह सकते हैं? अगर दहेज रोधी और ऐसे ही कुछ और कानूनों में ऐसे ही प्रावधान हैं तो जरूरत उनमें भी सुधार की है, न कि एससी-एसटी एक्ट का दमनकारी स्वरूप बनाए रखने की। सुप्रीम कोर्ट ने विधि के शासन के अनुरूप कदम उठाते हुए यह भी स्पष्ट किया कि सरकारी कर्मचारियों और आम नागरिकों के मामले में दलित उत्पीड़न संबंधी शिकायत की जांच किस स्तर के अधिकारी करेंगे। उसने इस एक्ट के तहत गिरफ्तार व्यक्ति की जमानत भी संभव बनाई। जब यह

देखने में आ रहा था कि झूठी शिकायत के **शिकार** व्यक्ति भी अर्से तक जेल में बंद रहते थे तो फिर जमानत की गुंजाइश बनाने को अनुचित कैसे कहा जा सकता है?

कुछ राजनीतिक दल दलितों पर अपना अधिकार मानते हैं

यह समझा जा सकता है कि देश में दलित **राजनीति** ने अपनी जड़ें जमा ली हैं और आज हर दल खुद को दलित हितैषी के रूप में रेखांकित करता है, लेकिन सच्चाई यह है कि **दलितों** के उत्पीड़न के अनेक मामलों में आरोपित तत्व **किसी** न किसी दल से जुड़े मिलते हैं। आखिर इसका क्या मतलब कि दलितों को वोट बैंक के तौर पर तो देखा जाए, लेकिन यह सुनिश्चित करने के लिए जरूरी कदम न उठाए जाएं कि उनका उत्पीड़न और अनादर न होने पाए। देश में कुछ ऐसे भी राजनीतिक दल हैं जो यह मानकर चलने लगे हैं कि दलितों पर केवल उनका ही अधिकार है। उन्हें यह मंजूर नहीं कि कोई अन्य दल दलितों के हितों की रक्षा के लिए पहल करे। यह मानने के अच्छे-भले कारण हैं कि विपक्षी दल एससी-**एसटी** एक्ट में सुधार संबंधी सुप्रीम कोर्ट के फैसले का विरोध इसीलिए कर रहे हैं, क्योंकि उन्हें यह रास नहीं आ रहा कि भाजपा दलितों को वोट बैंक बनाने के बजाय उन्हें मुख्यधारा में लाने के उपाय कर रही है। यह संकीर्ण राजनीतिक स्वार्थों के तहत एक सही फैसले **की** जानबूझकर गलत व्याख्या करने का ही नतीजा है **कि** सरकार को सुप्रीम कोर्ट के फैसले के खिलाफ पुनर्विचार याचिका दायर करने के लिए आगे आना पड़ा। अच्छा होता कि वह इस पर गौर करे कि उसका दायित्व यह देखना है कि देश के हर नागरिक के मान-**सम्मान** की रक्षा हो।

राजनीतिक दल जाति, मजहब और क्षेत्र की राजनीति को बढ़ावा दे रहे हैं

सरकार को एक ओर जहां यह सुनिश्चित करना चाहिए कि दलितों का उत्पीड़न न होने पाए वहीं यह भी कि दलित उत्पीड़न की झूठी शिकायतों के चलते समाज में वैमनस्य न फैलने पाए। आखिर यह कहां तक उचित है कि मानहानि के **मामलों** का निपटारा होने में तो वर्षो खप जाएं, लेकिन दलित उत्पीड़न के मामले में आरोपित तत्काल गिरफ्तार होकर जेल भी भेज **दिया** जाए? यह ठीक नहीं कि आजादी के 70 वर्ष बाद भी हमारे राजनीतिक दल जाति, मजहब और क्षेत्र की राजनीति को बढ़ावा दे रहे हैं। आखिर इस स्थिति में सामाजिक समरसता का लक्ष्य कैसे हासिल होगा? बेहतर होगा कि राजनीतिक दल संकीर्ण स्वार्थों को पूरा करने के बजाय यह देखें कि सभी दमनकारी कानून दुरुस्त हों।

जनसत्ता

Date: 01-04-18

अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता

पी. चिदंबरम

इस समय दुनिया में एक नया शीतयुद्ध चल रहा है। यह अमेरिका और रूस के बीच नहीं है; जो कि एक कूटनीतिक जंग है, ढीठ व 'एकमात्र महाशक्ति' और एक प्रताड़ित पर **स्वाभिमानी** देश के बीच, जिसने धुरी होने की अपनी **हैसियत** खो दी है। यह अमेरिका और चीन के बीच नहीं है; जो कि व्यापार युद्ध है, जिसे विश्व व्यापार के नियमों के तहत ही उचित **तरीके** से रोका जा सकता है। नया

शीतयुद्ध भारत और चीन के बीच है। यह जंग दो टकराते दृष्टिकोण की उपज है: भारत चीन को ईर्ष्या की निगाह से देखता है, चीन भारत को हिकारत की नजर से देखता है। भारत की निगाह में चीन वर्चस्ववादी है, चीन भारत को नौसिखुआ मानता है।

निरर्थक ईर्ष्या

खटास को समझने के लिए कुछ कठोर तथ्यों को जानना ही होगा। देखें तालिका। मैं इसे काफी अफसोस के साथ कहता हूं, पर इसमें दो राय नहीं कि कौन अधिक सशक्त और अधिक समृद्ध राष्ट्र है। दोनों में एक को या दोनों को ही गरीबी से पार पा चुके मध्य-आय वाला देश होने में बरसों लगेंगे। हालांकि चीन इस दौड़ में भारत से आगे है।

चीन की शानदार रणनीति

हर लिहाज से चीन की रणनीति शानदार है। चीन की रणनीति का एक प्रमुख पहलू पड़ोस में दबदबा है, जिसमें एशिया का बड़ा हिस्सा और यूरोप का भी कुछ हिस्सा आता है। भारत, और शायद जापान, आस्ट्रेलिया, और कुछ दक्षिण-पूर्व एशियाई देश इसे वर्चस्व के रूप में देखते हैं; जबकि चीन किसी प्रकार की दखलंदाजी से इनकार करता है। बीआरआई यानी 'बेल्ट ऐंड रोड इनीशिएटिव' राष्ट्रपति शी जिनपिंग की खास पहल है। भारत और भूटान समेत कुछ देश बीआरआई में शामिल होने के खिलाफ हैं। चीन ने बांग्लादेश, मालदीव, म्यांमा, नेपाल, पाकिस्तान और श्रीलंका से व्यापक आर्थिक साझेदारी शुरू कर दी है, उन देशों से जो भारत के चतुर्दिक पड़ोस में हैं। इन देशों से चीन का व्यापार और इन देशों में चीन का निवेश बढ़ा है। बांग्लादेश का सबसे बड़ा व्यापारिक साझेदार चीन है। श्रीलंका के आयात में सबसे बड़ा हिस्सा चीन-निर्मित चीजों का है। चीन पाकिस्तान में भारी ढांचागत निवेश कर रहा है, जिसमें सबसे उल्लेखनीय है ग्वादर बंदरगाह का निर्माण। श्रीलंका ने हंबनटोटा बंदरगाह का सत्तर फीसद मालिकाना हक चीन को सौंप दिया है, जो कि आगे कभी भी जिबूती की तरह नौसैनिक अड्डे में बदल सकता है। अक्टूबर 2016 में चीन ने म्यांमा के साथ 24 अरब डॉलर के निवेश का करार किया था और वह क्याकप्यू में गहरे समुद्र में बंदरगाह बना रहा है। मजबूत मार्क्सवादी प्रभाव वाली नेपाल की केपी ओली सरकार के बारे में कयास है कि वह चीन की तरफ झुक सकती है। मालदीव की बाबत भारत के बराबर अधिकार जताते हुए चीन ने संकट में पड़े इस द्वीपीय देश में भारत की तरफ से हो सकने वाली किसी भी कार्रवाई को बड़े प्रभावी ढंग से रोक दिया है।

भारत कैसे नाकाम हुआ

कूटनीतिक पर्यवेक्षकों ने भारत की कई रणनीतिक भूलों की तरफ इशारा किया है। सबसे गंभीर गलती पाकिस्तान के संबंध में अचानक किया गया बदलाव रहा है, जिसे 'विदेश नीति' के तौर पर पेश किया गया और जिसने पाकिस्तान को पूरी तरह चीन के पाले में धकेल दिया। अगर भविष्य में कोई युद्ध होगा, तो वह सिर्फ एक पड़ोसी देश के साथ सीमित रहने वाला युद्ध नहीं होगा, बल्कि वह युद्ध दो मोर्चों पर होगा। नेपाल के नए संविधान को लेकर उसके साथ भारत के गतिरोध को दूर करने की कोशिश इतने अपरिपक्व ढंग से की गई कि उससे नेपाल में राष्ट्रवादी भावना को गहरी चोट पहुंची और एक प्रकार का टकराव पैदा हुआ (खासकर केपी ओली की पार्टी के साथ)। इस घाव को भरने में लंबा वक्त लगेगा। मालदीव में भारत चुपचाप पीछे हट गया, वहां के विपक्षी दलों को हैरानी में डालते हुए। श्रीलंका में सरीसेना-विक्रमसिंघे का सत्तारूढ़ गठबंधन उपेक्षा से आहत है, फिर से उभरते राजपक्षे खुल कर विरोध का राग अलाप रहे हैं। रहा बांग्लादेश, तो वह एक दूसरे के प्रति घोर वैर पाले दो राजनीतिक दलों के बीच इस कदर विभाजित है कि उनकी तीखी सियासी लड़ाई में भारत को कभी भी एक तटस्थ देश के रूप में नहीं देखा जाएगा। फिर इसमें आश्चर्य की क्या बात है कि भारत का पड़ोस चीन के लिए एक लुभावना क्षेत्र बन गया है, जिसके पास विपुल संसाधन हैं, जिसकी सरकार के सम्मुख देश में कोई विपक्ष नहीं है, जिसके पास एक सर्वशक्तिमान नेता है और कपट-भरी चालें हैं? (यह भी याद करें कि राष्ट्रपति शी यह कहने वाले एकमात्र नेता हैं

कि वे प्रधानमंत्री मोदी से गले मिलने को आतुर नहीं हैं।) तमाम पर्यवेक्षक जानते हैं कि चीन भरसक भारत को संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद या एनएसजी (न्यूक्लीयर सप्लायर्स **ग्रुप**) का सदस्य बनने नहीं देगा।चीन खुद को एशिया की **एकमात्र** महाशक्ति के रूप में देखता है और अमेरिका के बराबर शक्तिशाली हो जाने की उम्मीद पाले हुए है (ट्रंप की भूलों की बदौलत!)। भारत को एक दीर्घकालीन रणनीति पर काम करना पड़ेगा- चीन के बराबर की आर्थिक शक्ति बनना पड़ेगा। उसके लिए **सामूहिक** आर्थिक समझ, साहसिक, ढांचागत सुधारों, कड़े नीतिगत बदलावों और **दृढ़** कार्यान्वयन की जरूरत है, जो दो दशक तक सतत और ऊंची (आठ से दस फीसद) विकास दर की तरफ ले जाएगा। इस चुनौती से पार पाना अकेले मोदी के बस का नहीं है।

राष्ट्रीय सहारा

Date: 01-04-18

भारत भी ओली का हाथ थामे

डॉ. दिलीप चौबे

भारत को पूरा भरोसा है कि नेपाली प्रधानमंत्री केपी शर्मा ओली की तीन दिवसीय दिल्ली यात्रा से दोनों **देशों** के रिश्तों के बीच जमी बर्फ पिघल सकती है। हालांकि ओली चीन समर्थक माने जाते हैं, बावजूद इसके उन्होंने किसी नेपाली **प्रधानमंत्री** द्वारा पदभार ग्रहण करने के बाद विदेशी दौरों की शुरुआत नईदिल्ली से करने की परंपरा के प्रति विास जताया है। 2015-16 में जब वह प्रधानमंत्री थे, तब नेपाल के नये संविधान की व्याख्या का मुद्दा इतना गहरा गया था कि दोनों देशों के रिश्तों में खटास आ गई थी। मधेसी आंदोलन और नेपाल की आर्थिक नाकेबंदी के लिए ओली ने सीधे तौर पर भारत को जिम्मेदार ठहराया था। इस आरोप में **आंशिक** सचाई भी रही क्योंकि नेपाल स्वतंत्र-संप्रभु राष्ट्र है।उसके आंतरिक मामले में दखल अवैध और गलत है। हाल के दिनों में चीन का कम्युनिस्ट नेतृत्व जितना ताकतवर हुआ है, और दक्षिण एशिया में भारत के समक्ष जिस तरह से नई-नई चुनौतियां पेश कर रहा है, उसके मद्देनजर नेपाल की भू-राजनीतिक स्थिति ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो गई है। भारतीय राजनय इस बात को गंभीरता से महसूस कर रहा है। दबे स्वर माना जा रहा है कि नेपाल में 2015 में हुई आर्थिक **नाकेबंदी** से निबटने में भारत से गलतियां हुई जिनसे नेपाल को चीन की ओर देखना पड़ा। ओली के प्रधानमंत्री बनने से चीन ज्यादा **उत्साहित** है।

उसे उम्मीद है कि ओली की मदद करके वह **दक्षिण** एशिया की राजनीति में ज्यादा सक्रिय भूमिका अदा कर सकता है। लेकिन दूसरी ओर प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने चुनावों में वामपंथी गठबंधन की भारी जीत पर ओली को बधाई देकर 2015-16 की रणनीतिक भूल सुधारने में महत्त्वपूर्ण पहल की। सरकार के गठन का इंतजार किए बगैर विदेश मंत्री सुषमा स्वराज को **विशेष** संदेश देकर नेपाल भेजा था। विदेश मंत्री ने नेपाली नेतृत्व को साफ **शब्दों** में बताया कि भारत नेपाल में राजनीतिक स्थिरता और आर्थिक समृद्धि चाहता है। इसमें दो राय नहीं हैं कि ओली नेपाल के **लोकतांत्रिक** इतिहास में सबसे ताकतवर नेता के रूप में उभर कर आए हैं। इसलिए माना जा रहा है कि भारत के साथ आर्थिक-राजनीतिक सौदेबाजी करने में उनका पलड़ा भारी रहेगा। ओली बखूबी जानते हैं कि नाकेबंदी के दौरान उन्होंने जिस तरह भारत विरोधी **कूटनीति** अपनाई उसके कारण भी उन्हें चुनावों में सफलता **मिली** है।

लेकिन उन्हें यह भी समझना चाहिए कि हर बात के लिए भारत की आलोचना करने के विपरीत परिणाम भी हो सकते हैं। दरअसल, ओली तकनीकी रूप से अल्पमत सरकार का नेतृत्व कर रहे हैं। उन्हें अपनी सत्ता को दीर्घायु बनाने के लिए अपने सहयोगी दल माओवादी सेंटर के साथ तुष्टीकरण की नीति अपनानी होगी। उनकी खुद की पार्टी नेकपा (यूएमएल) के परस्पर विरोधी धड़ों को भी साथ लेकर चलना बड़ी चुनौती है, इसके अलावा, संघीय व्यवस्था के तहत बने नये राज्यों के प्रबंधन के लिए भारी विदेशी आर्थिक सहायता की जरूरत है।कहने की जरूरत नहीं कि भारत के साथ अच्छे रिश्ते बनाकर ही नेपाल का संघीय लोकतंत्र संस्थाबद्ध हो सकता है। इसलिए उन्होंने नेपाली परंपरा का निर्वाह करते हुए अपने पहले विदेश दौरे के तहत आगामी छह अप्रैल को भारत आने का निर्णय किया। ओली की इस यात्रा का उद्देश्य परस्पर विास बहाली और आर्थिक संबंधों को मजबूत करना है। भारत आर्थिक सहायता के साथ-साथ नई परियोजना की घोषणा कर सकता है।

Date: 01-04-18

मुस्लिम देश ऐसे क्यों?

राजकिशोर

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ हिन्दू समाज से ज्यादा मुस्लिम समाज में दिलचस्पी लेता है, यह एक जानी-पहचानी बात है। संघ के लोग अक्सर सवाल करते हैं कि क्या आप किसी मुस्लिम-बहुल देश का नाम बता सकते हैं, जो धर्मनिरपेक्ष राज्य है, या जहां लोकतंत्र व्यवस्था है, या जहां सर्वधर्म समभाव को मानते हैं, या जहां सब धर्मों को मानने वालों को समान अधिकार प्राप्त है? यह एक भ्रांत धारणा है, और जान-बूझ कर फैलाई जाती है कि सभी मुस्लिम देश कट्टरपंथी हैं, और वहां अन्य समुदायों को मुसलमानों के बराबर अधिकार प्राप्त नहीं हैं।

भारत में सभी के कानूनी अधिकार बराबर हैं, यह बता कर साबित करने की कोशिश की जाती है कि लोकतंत्र के मामले में हिन्दू विशेष रूप से उदार हैं। चूंकि हमारे दो पड़ोसी देश बांग्लादेश और पाकिस्तान अपने को इस्लामी राज्य घोषित कर चुके हैं, इसलिए यह प्रभाव पैदा किया जाता है मानो सभी मुस्लिम-बहुल देश ऐसे ही होते हैं। इस समय कम से कम पांच मुस्लिम-बहुल देश ऐसे हैं, जहां का कोई राज्य-धर्म नहीं है, और जहां आधुनिक तरह का लोकतंत्र है। ये देश हैं लेबनान, अल्बानिया, टर्की, इंडोनेशिया और मिस। फिर भी, इस बात में सचाई यह है कि बहुत-से मुस्लिम-बहुल देश आधुनिक नहीं हो पाए हैं। लेकिन उनके ऐसा होने में इस्लाम की भूमिका कम और राजतंत्र तथा मर्दवाद की भूमिका ज्यादा है।

वैसे, यह विकट प्रश्न है कि कोई व्यक्ति, समाज या देश ऐसा क्यों है, और वैसा क्यों नहीं है। यह लगभग इसी किस्म का सवाल है कि चीता चीता क्यों है, और चींटी चींटी क्यों है। या, जर्मन लंबे और जापानी नाटे क्यों होते हैं? या, कार साइकिल से तेज क्यों चलती है? इस सब के कुछ आनुवंशिक कारण होते हैं, और कुछ भौतिक कारण। और जीव जगत के मामले में सांस्कृतिक कारण भी होते हैं। आश्चय की बात है कि संघ के लोग हिन्दुओं के बारे में कभी नहीं पूछते कि हिन्दू समाज में अस्पृश्यता की शुरु आत कब हुई। वह इतने दिनों तक कैसे बनी रही है, या जाति प्रथा नाम की चीज दुनिया में अकेले हिन्दू समाज में ही क्यों पाई जाती है। हिन्दू समाज में स्त्री इतनी विवश क्यों है? हिन्दुओं के पंडित-पुजारी इतने निरक्षर या कम पढ़े-लिखे क्यों होते हैं? सती प्रथा किन कारणों से जारी रही और विधवा के पुनर्विवाह पर इतने दिनों तक रोक क्यों बनी रही। जाहिर है, इन सवालों का जवाब देना आसान नहीं है। सच तो यह है कि भारत में अंग्रेज नहीं आए होते या यूरोपीय शिक्षा का प्रचार-प्रसार न होता तो भारत भी लगभग वैसा ही हिन्दू राष्ट्र बना रहता जैसे अनेक देश इस्लामी देश बने हुए हैं। इस्लाम का विकास खास परिस्थिति में हुआ।

इस्लाम के पहले अरब क्षेत्र में जो संस्कृति थी, उसकी तुलना में वह निश्चय ही प्रगतिशील था। लोग चार शादियों की बात खास तौर पर उठाते हैं। हम जानते हैं कि मुहम्मद साहब को इस्लाम को स्थापित करने के लिए कई युद्ध लड़ने पड़े जिससे विधवाओं की संख्या अचानक बढ़ गई। उन्हें राहत देने के लिए हजरत साहब ने मुस्लिम पुरु षों को यह अनुमति दी कि तुम सभी स्त्रियों के साथ एक जैसा प्रेम कर सकते हो तो चार स्त्रियों तक के साथ शादी करना तुम्हारे लिए जायज है। भारत में वैसी परिस्थिति नहीं थी, फिर भी हिन्दू कोड बिल बनने के पहले संघ ने जिसका विरोध किया था, हिन्दुओं में बहुविवाह धर्म-विरु द्ध नहीं था। इस्लाम की असली समस्या कुरआन है। माना जाता है कि यह ईर की वाणी है। बाइबिल के बारे में भी यही माना जाता रहा है। लेकिन अब ईसाई समाज अपनी राजनैतिक-सामाजिक व्यवस्था बाइबिल के अनुसार नहीं चलाता। वेद भी ईर-कृत नहीं हैं।

इतिहास में कोई ऐसा प्रमाण नहीं है कि कभी ईर ने किसी समाज को बताया था कि वह उससे क्या चाहता है। आज न तो ईसाई समाज बाइबिल का पूरा पालन करता है, न हिन्दू समाज वेदों, रामायण या गीता के अनुसार चल रहा है। लेकिन मुस्लिम समाज अभी भी कुरआन से बंधा हुआ है। मुस्लिम समाजों में तर्कबुद्धि, धर्मनिरपेक्षता और आधुनिकता के मूल्य कमजोर हैं। यह मिथक जान-बूझ कर फैलाया गया है कि नेपाल हिन्दू राष्ट्र है, या कभी था। नेपाल की आबादी में हिन्दुओं का प्रतिशत 80.62 (सन 2001) है यानी भारत से एक-डेढ़ प्रतिशत ज्यादा। लेकिन नेपाल की कानून व्यवस्था कभी भी मनुस्मृति या किसी अन्य हिन्दू ग्रंथ के अनुसार नहीं रही।

दलितों के लिए जरूर बहुत सख्त और भेदभावपूर्ण कानून थे, पर राणाशाही खत्म होने के बाद यह देश लगातार आधुनिक शासन पद्धति और जीवन शैली की ओर बढ़ता रहा है। दूसरी बात यह है कि नेपाल में कोई ऐसा सांस्कृतिक या राजनैतिक संगठन नहीं है, जिसकी तुलना भारत के संघ से की जा सके। नेपाल में करीब दस लाख मुसलमान रहते हैं, पर उनके विरु द्ध कोई असहिष्णुता नहीं है, न उन्हें सताया जाता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जब हिन्दू राष्ट्र की बात करता है, तब उसके सामने कौन-सा मॉडल रहता है? क्या संघ यह बताने की कृपा करेगा कि वह भारत को किस ग्रंथ के अनुसार, किस संस्कृति के अनुसार, किस संविधान के अनुसार बनाना चाहता है? इस संदर्भ में क्या संघ संस्कृत, पालि, प्राकृत या किसी भी भारतीय भाषा में लिखित पुस्तक, संहिता या स्मृति का नाम ले सकता है? या हिन्दू राष्ट्र नाम की कोई अनोखी चीज है, जिसका उसने स्वयं आविष्कार किया है, और जिसका कॉपीराइट उसी के नाम है?

Date: 31-03-18

दलित उत्पीड़न के बरक्स

अनिल चमड़िया

सुभाष काशीनाथ महाजन बनाम महाराष्ट्र सरकार के मामले (क्रिमिनल अपील नम्बर 416/2018) के मामले के बहाने सुप्रीम कोर्ट ने अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति (उत्पीड़न रोकथाम) कानून, 1989 को लेकर 20 मार्च, 2018 को जो दिशा-निर्देश जारी किया है, उसकी पृष्ठभूमि पर गौर करना जरूरी है।पहली बात कि सुप्रीम कोर्ट ने एक मामले के बहाने दलित-आदिवासी उत्पीड़न विरोधी इस कानून के प्रावधानों की नई व्याख्याएं पेश की हैं। एक मामले के बहाने पूरे कानून पर सवाल खड़ा करने की मिसालें इन दिनों बढ़ रही हैं। खास तौर से वंचित वगरे के सशक्तिकरण से जुड़े कानूनों के साथ यह देखा जा रहा है।

दलित-आदिवासी उत्पीड़न विरोधी कानून से पहले सुप्रीम कोर्ट के इन्हीं दो जजों की बैंच ने महिलाओं के उत्पीड़न संबंधी कानून की भी लगभग इसी तरह व्याख्या की थी। सुप्रीम कोर्ट कोई टापू पर बैठी संस्था नहीं है। फैसले अपने समय की राजनीतिक और सामाजिक

गतिविधियों की कड़ी होते हैं। जिस तरह से एक लंबे समय तक राजनीतिक और सामाजिक आंदोलनों के दबाव में आकर संसद को इस तरह का कानून बनाना पड़ा था, ठीक उसी तरह उसके उल्ट राजनीतिक और सामाजिक दबावों में वंचितों की सुरक्षा व हितों में बनाए गए प्रावधानों पर हमले हो रहे हैं। ये राजनीतिक और सामाजिक दबाव क्या हैं? ये दबाव क्या समाज के वंचित वगरे के हितों की सुरक्षा का है, या फिर ये दबाव वंचितों के हितों से नाराज होने वाले समाज के वर्चस्ववादी समूहों का दबाव हैं? 2009 में महाराष्ट्र के कराड स्थित सरकारी फार्मेसी कॉलेज में एक दलित कर्मचारी द्वारा प्रथम श्रेणी के दो अधिकारियों के खिलाफ उक्त कानून की धाराओं के तहत शिकायत दर्ज कराने का मामला है।

डीएसपी स्तर के पुलिस अधिकारी ने उसकी जांच की और चार्जशीट दायर करने के लिए आला अधिकारियों से लिखित निर्देश मांगा। उस संस्थान के प्रभारी डॉ. सुभाष काशीनाथ महाजन ने अपने अधिकारों का दुरुपयोग किया और चार्जशीट दायर नहीं की जा सकी। तब उक्त दलित कर्मचारी ने डॉ. महाजन के खिलाफ शिकायत दर्ज की। डॉ. महाजन ने हाई कोर्ट में उस एफआईआर को रद्द करने की मांग की जिसे हाई कोर्ट ने ठुकरा दिया। इसके बाद डॉ. महाजन ने सुप्रीम कोर्ट में अपील की। इस तरह उत्पीड़न का शिकार होने वाले कर्मचारी के बजाय यह मामला सरकार बनाम डॉ. महाजन के रूप में सुप्रीम कोर्ट के सामने आया। फैसले के वक्त के सामाजिक राजनीतिक हालात पर भी गौर करना होगा। केंद्र में जो भी पार्टी सत्ता में होती है, उस पार्टी का राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक आधार उस दौरान सत्ता की पूरी प्रक्रिया को संचालित करता है। नरेन्द्र मोदी की सरकार के आने के बाद दलित उत्पीड़न की घटनाएं बुहत तेजी के साथ बढ़ी हैं। वंचित वगरे के लिए सरकारी सेवाओं और शैक्षणिक संस्थानों में छात्रों के आरक्षण के प्रावधानों को लगातार कमजोर होते महसूस किया जा रहा है। यूजीसी ने विविद्यालयों और कॉलेजों में शिक्षकों की नियुक्तियों में आरक्षण के प्रावाधनों को इस तरह से कर दिया है कि वंचित वगरे में असुरक्षा की भावना और बढ़ गई है। इन सब हालातों को बीच रखकर ही सुप्रीम कोर्ट के फैसलों की समीक्षा की जा सकती है।इस मामले में कानून की सुरक्षा करने में सरकार की विफलता ही सामने आई है।

केंद्र सरकार के एडिश्नल सॉलीसिटर जनरल ने अपनी दलीलें जिस तरह से पेश की हैं, उनमें इस मुकदमे के प्रति सरकार की संजीदगी का आकलन किया जा सकता है। दरअसल, एक कानून जब बनता है, तो उसके लिए तयों को आधार बनाता है, और संविधान के दर्शन के मुताबिक समाज के दबे-कुचले लोगों के पक्ष में उन तयों की व्याख्या की जाती है। लेकिन इस समय की सच्चाई यह है कि दलितों और आदिवासियों के उत्पीड़न की शिकायतें तेजी से बढ़ी हैं। लेकिन इन शिकायतों पर सरकार कार्रवाइयां करने में विफलता हासिल कर रही है, और ये विफलताएं शिकायतों को फर्जी साबित कर रही हैं। सुप्रीम कोर्ट ने अपने फैसले में पुलिस में 2016 में की गई शिकायतों का एक आंकड़ा और उसके नतीजों का हवाला दिया है कि दलितों के उत्पीड़न के कुल मामलों में 5347 और आदिवासियों के उत्पीड़न की शिकायतों के मामलों में 912 शिकायतें झुठी पाई गई। 2015 में 15638 में से 11024 मुकदमों में सजा नहीं हुई या आरोप मुक्त कर दिया गया। 495 मामले वापस लिए गए। केवल 4119 मामलों में सजा हुई। इन तयों की व्याख्या इस रूप में की जा सकती है कि इन वर्षो में दलितों और आदिवासियों के उत्पीड़न के खिलाफ कार्रवाई के मामले में सत्ता का तंत्र ढीला पड़ा है, या वह तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक गोलबंदी के आगे झुका हुआ है।

ये आंकड़े शिकायतों के फर्जी होने से ज्यादा सत्ता की मशीनरी पर सवाल खड़े करते हैं, लेकिन मजेदार बात यह दिखती है कि जिस तरह से सुप्रीम कोर्ट ने जिन आंकड़ों की व्याख्या अपने फैसले के अनुकूल करने की कोशिश की है, उसी तरह से सरकार के वकील की दलीलों ने भी उन व्याख्याओं को मजबूत करने में मदद पहुंचाई है। सरकार के वकील ने भी कहा कि 2015 के 75 प्रतिशत मामलों में आरोपियों को दोषमुक्त कर दिया गया व उन्हें वापस ले लिया गया। 15-16 प्रतिशत मामलों में पुलिस अधिकारियों ने मुकदमे को बंद करने की रिपोर्ट पेश की।

इस फैसले के संदर्भ में कमजोर वगरे के लिए प्रावधानों की व्याख्या पर भी गौर करना होगा। इसी तर्क के आधार पर क्या उन कानूनों की भी व्याख्या कर सकते हैं, जिन्हें सत्ता की मशीनरी अल्पसंख्यकों के खिलाफ लगातार इस्तेमाल करती है, और वे आरोप न्यायालय में साबित नहीं हो पाते हैं, तो क्या उन कानूनों व प्रावधानों को भी समाप्त कर देना चाहिए? दलितों व आदिवासियों का उत्पीड़न बहुस्तरीय होता है, और उनकी शिकायतों पर कार्रवाई नहीं होने के भी बहुस्तरीय ढांचे मौजूद हैं। सुप्रीम कोर्ट ने फैसले में हवाला दिया है कि कैसे समाज के प्रभावशाली लोगों के खिलाफ इस कानून के तहत शिकायतें दर्ज कराई जाती हैं। लेकिन उत्पीड़न तो बराबर समाज पर वर्चस्व रखने वाला समूह, समुदाय और संस्कृति ही करती है? राजनीतिक स्थितियां यह तय करती हैं कि किन आंकड़ों की किस तरह से व्याख्या की जाए। यही जमीनी हकीकत है।

THE HINDU

Date: 31-03-18

The illusion of participation

Krishna Kumar (Krishna Kumar is a former director of NCERT)

By promoting the culture of mass 'following', social media are shaking the foundations of democracy

The Canadian economist and philosopher Harold Innis comes to mind as an aid to reflect on Facebook's silent leap from being regarded as social media to having been proved a powerful political media. Its CEO Mark Zuckerberg has quickly apologised, but that cannot be of much use when the outcome of Facebook's involvement in elections has proved to be so vitally naughty as to help smuggle into the highest office in the U.S. a man like Donald Trump. Of course, we will never know what proportion of the credit for this achieving this can be given to Facebook or Cambridge Analytica. Perhaps we need not worry about fair distribution of credits in this case. Assessing the seismic jolt America's democracy has suffered is more important. And why worry only about American democracy? We too seem to have been rendered vulnerable, and our record of self-correction is not great. In its moment of embarrassment, Facebook has given the entire world a reason to pause and ponder.

Bias of communication

Innis is best known for his book, The Bias of Communication , first published in 1951. As the title indicates, he was interested in examining the nature of a medium or technology of communication as a factor of social order. He studied the history of ancient empires and their decline by focussing on the technology of communication they used. Innis used 'space' and 'time' as basic sources of bias in different

media of communication developed down the ages. Some, like rock inscriptions, manuscripts copied by hand, and orally stored epics were biased, in Innis's view, towards stability over long periods of time.

On the other hand, newspapers, radio and television were examples of space-bias technology. They reach out to vast territories, but the content or message does not last long. He studied different empires and concluded that the ones that developed a balance between space and time attained higher civilisational goals.The Internet and the mobile phone seem heavily 'space-biased' in Innisian terms. Their reach is extraordinarily wide and fast, but the messages conveyed through them need relentless repetition, suggesting ephemeral value. This disbalance gets magnified in social media such as Facebook and Twitter. They provide huge followings to users, and, in the same measure, they create short-lived ripples that titillate and excite the public space on a constant basis. This duality explains the attraction they exercise despite the risk their users face of being manipulated.

The rise of these social media companies has coincided with major changes in the nature of the state and its duties towards citizens. Surveillance as a means of providing safety has gained acceptability — even legitimacy — in many parts of the world. In the industrially advanced bastions of liberal democracy, a sharp change in public willingness to put up with, even appreciate, the state's ominous presence in every sphere of life has come about. This accommodating public mood has prompted the tendency among political leaders to seek more and more authority and means to create a centralised system to wield it. Advances in communication technology have encouraged systems of governance to concentrate decision-making power at the higher rungs, leaving compliance and implementation to people placed at the lower rungs.

Innis would have seen this as a sign of increase in space-bias. He would also have related this increase to the diminution of memory and continuity. Parallel and rapid growth of these two tendencies can be expected to cause significant amounts of disbalance, which might lead to the collapse of institutions that play a balancing role. Democracy is one such institution. It is based on the idea of participation of the largest number of people, even if that slows down decision-making. On the face of it, social media creates the illusion of maximal participation, but in reality it promotes the culture of mass 'following'. The millions who comprise the 'following' of leaders can hardly be called participants in decision-making.

This model of communication has smoothly pushed American democracy towards an unfamiliar wilderness. Its electoral process compromised by manipulation of voters' minds — by use of authentic data they have themselves provided — the U.S. faces a deep vulnerability, from within itself. Signs of political neurosis are all too obvious.

Centripetal energies

In our own case, the use of digital technology to give every citizen a unique identity number is creating new daily challenges for stemming the centralisation of authority. Whatever the highest court decides in the Aadhaar case, it can hardly avoid noticing the centripetal energies fast grabbing our democracy. Of course, these wider tendencies can't be attributed to Aadhaar. Long before Nandan Nilekani had gifted this shiny toy to the nation, ostensibly meant to improve the the state's capacity to serve the poor, the problem of handling data about common people with integrity was quite familiar to the lower functionaries managing elections.

In all likelihood, both Facebook and American democracy will survive the rough weather they are facing. It is equally likely that they will learn little from this experience. This is because their financial

investments in the new communication order are heavy and will not allow withdrawal or slowdown in use. An element of destiny has already crept in. As an institution, social media is in its infancy, but it has already acquired an ideological temper. It wields the power of crowds that are ready to lynch its critics. A substantial part of the population of youth across the world inhabits social media platforms, giving companies like Facebook and Twitter an amount of cultural power rather unique in corporate history. The use of these platforms by office-holding politicians adds to their mighty claim to neutrality.

Looking for sanity

However, their disbalancing force is equally strong and harder to hide than it was earlier. Therefore, it is reasonable to hope that revelations of the kind made recently about misuse of personal data by Facebook and Cambridge Analytica will continue to rock the established systems of public communication, on one hand, and, on the other, the exercise of command by those in authority. An eventual opportunity for a new equilibrium and sanity to prevail is imminent.